भाव एवं मनोविकार

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

श्रद्धा के दो रूप

संसार में जीव अनेक प्रकार की आकुलताओं-व्याकुलताओं से दुःखी है। वह अनेक तरह की चिन्ताओं से सदा चिन्तित रहता है। अनेक प्रकार के भय उसको भीरु बनाये रहते हैं। भूख-प्यास उसको सताती रहती है और जन्म-मरण की व्याधि उसका कभी पीछा नहीं छोड़ती। जैसे जन्म से अंधे मनुष्य को किसी ऊबड़-खाबड़ भूमि में चलना पड़े तो उसे पग-पग पर ठोकरें खानी पड़ती हैं, उसी तरह आत्म-ज्ञान से शून्य संसारी जीव को मोह के गहन अन्धकार में नरक, पशु आदि विविध योनियों में भटकना पड़ता है। जिस तरह कोल्हू को चलाने वाला बैल दिन भर में २० मील चल लेता है किन्तु रहता वहीं का वहीं है, वहां से १० गज भी आगे नहीं बढ़ पाता, उसी तरह संसारी जीव असंख्य योजनों की यात्रा कर चुका है परन्तु संसार के चक्र से छूट नहीं पाया, वहीं का वहीं खड़ा है।

जैसे कोई अन्धा मनुष्य मीलों लम्बे-चौड़े एक परकोटे में भटक रहा है जिसमें कि केवल एक ही द्वार बाहर निकलने का बना हुआ है, वह बेचारा अन्धा दीवार के सहारे हाथों से टटोलता हुआ उस परकोटे का चक्कर लगाता है। चक्कर लगाते-लगाते जब वह द्वार पर आता है तब दुर्भाग्य से उसको कभी खुजली हो उठती है जिसको खुजाने के लिए चलता हुआ ज्यों ही हाथ उठाता है कि वह द्वार निकल जाता है और उसे फिर सारा चक्कर लगाना पड़ता है। कभी उसी द्वार के आने पर छाती में पीड़ा होने लगती है तब टटोलने वाला हाथ छाती पर जा लगता है और समीप आया हुआ द्वार छूट जाता है। उसे फिर सारा चक्कर लगाना पड़ता है। जब घूमते-घूमते सौभाग्य से द्वार पुनः पास में आता है तो दुर्भाग्य से उसकी धोती खुलने लगती है। चलते-चलते ज्यों ही टटोलने वाले हाथ से धोती को सम्भालता है कि द्वार फिर निकल जाता है। इस तरह जन्म भर चक्कर लगाते-लगाते बेचारा उस परकोटे से बाहर नहीं हो पाता। इसी तरह संसारी जीव को संसार रूपी बन्दीगृह में चक्कर लगाते-लगाते एक मनुष्य-भव ऐसा मिलता है जिसके द्वार से यह संसार के बन्दीघर से बाहर निकल सकता है किन्तु उस समय घर-परिवार, मित्र, परिकर, धन-संचय के मोह में आकर वह अपना समय बिता देता है। मनुष्य-भव गया कि संसाररूपी जेल से निकलने का द्वार भी इस जीव के हाथ से निकल गया। जब कभी सौभाग्य से मनुष्य का शरीर मिला तब फिर पुत्र-मोह, शत्रु-द्वेष, कन्या के जीवन की चिन्ता, दरिद्रता से मुक्ति आदि में फँसकर उस सुवर्ण अवसर से लाभ नहीं ले पाता।

इस सांसारिक भ्रमण का मूल कारण 'मोह' है। मोह में आबद्ध होकर जीव विवेक-शून्य हो जाता है। जब विवेक कुछ कार्य नहीं करता तब अविवेक से यह जीव अपने आपको नहीं पहचान पाता, जड़ शरीर को ही आत्मा समझ बैठता है। कोई भी कार्य, वह चाहे लौकिक हो अथवा अलौकिक हो—श्रद्धा-ज्ञानयुक्त आचरण के बल पर सिद्ध होता है। किसी रोगी को यदि रोग से छुटकारा पाना है तो उसे वैद्य तथा औषधि पर दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिये कि इसके द्वारा मैं नीरोग हो जाऊँगा। उसे औषधि-सेवन का ज्ञान होना चाहिये कि अमुक औषधि पीने के लिये है और अमुक औषधि मालिश के लिए है। इसी के साथ औषधि का सेवन भी आवश्यक है। इन तीनों प्रक्रियाओं से रोगी रोग-मुक्त हो जाता है।

संसार-भ्रमण या जन्म-मृत्यु के रोग से मुक्ति पाने के लिये भी जीव को इसी प्रक्रिया को ठीक तरह से अपनाना पड़ता है। ज्ञान और आचरण पर लगाम लगाने वाली श्रद्धा है। श्रद्धा के अनुसार ही ज्ञान, आचरण स्वयं चल पड़ते हैं। किसी मनुष्य के हृदय में यह श्रद्धा (विश्वास) घर कर जाए कि दूध मुझे हानि करता है तो दूध के विषय में उसकी विरोधी विचारधारा चल पड़ेगी। वह प्रत्येक तरह से दूध को दुःखदायक विचारने लगेगा और लाखों यत्न करने पर भी वह दूध पीना स्वीकार न करेगा।

इसी तरह संसारी जीव की श्रद्धा अपने शरीर पर जमी हुई है। उसे विश्वास है कि यह अपनी ही एक चीज़ है, पराई नहीं है। सुख, दुःख, हर्ष, शोक, लाभ, हानि मुझे शरीर से ही प्राप्त होते हैं। एक क्षण भी शरीर के बिना मैं कुछ नहीं कर सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः शरीर रूप ही मैं हूं। ऐसी दृढ़ श्रद्धा संसारी जीव की अपने शरीर के साथ है। इसी श्रद्धा के अनुसार उसका ज्ञान उन व्यक्तियों को अपना मित्र समझता है जो इसके शरीर को कुछ लाभ पहुंचाते हैं, और जिन प्राणियों से इसके शरीर को रंचमात्र भी क्षति पहुंचती है उनको अपना शत्रु समझ लेता है। जिन वस्तुओं से शरीर को कुछ लाभ अनुभव होता है उनको प्रिय, और जिन चीजों से इसे अपने शरीर की हानि जान पड़ती है उन्हें अप्रिय समझ लेता है। अपनी उसी श्रद्धा के अनुसार समझे हुए मित्रों से प्रेम करता है और शत्रु माने हुए लोगों से वैर बांध कर उनसे लड़ता-झगड़ता है। प्रिय वस्तुओं का संग्रह करता है, अप्रिय वस्तुओं को दूर हटा देता है, तोड़-फोड़ डालता है।

इसी प्रेम वैर के आधार पर जीव संसार के सभी कार्य किया करता है। इस कारण संसार का मूल शरीर में आत्मा की श्रद्धा ही है। यह श्रद्धा सत्य श्रद्धा नहीं है क्योंकि शरीर तो एक तरह संसारी जीव का कुछ देर तक किराये पर लिया हुआ एक घर है। नियत समय के बाद यह किराये का मकान जीव को नियम से खाली करना पड़ता है। इस दशा में यह शरीर जीव का अपना पदार्थ किस तरह बन सकता है। अतः शरीर में आत्मा की श्रद्धा को 'श्रद्धा' न कहकर कुश्रद्धा या मिथ्या श्रद्धा कहना चाहिये। इससे यह बात सिद्ध होती है कि संसारी जीव को संसार की जेल में रखने वाला कोई और नहीं है, इसी के हृदय में जमी हुई मिथ्या श्रद्धा ही इसको संसार जेल से बाहर नहीं जाने देती।

अपनी उस कुश्रद्धा के आधार पर ही जीव शरीर के साझे में संसार का व्यापार कर रहा है। आत्मा शरीर को अपनी इच्छा अनुसार चलाता है। आत्मा जब शरीर को दौड़ने, भार उठाने, सर्दी, गर्मी, वर्षा में कार्य करने, कठिन परिश्रम करने आदि का संकेत करता है, शरीर वैसा ही करता है, और शरीर आत्मा से अपने लिये जैसे वस्त्र, आभूषण, तेल, उबटन, भोजन तथा अन्य पोषण, विश्राम के पदार्थ मांगता है, आत्मा वे पदार्थ शरीर को प्रदान करता है। इस तरह शरीर तथा आत्मा का साझा संसार में अनादि काल से चला आ रहा है। इसी साझे के कारण आत्मा शरीर को अपना ही समझ बैठा है। इतना ही नहीं, बल्कि शरीर के मोह में मूर्छित होकर स्वयं अपनी सुध-बुध भुला बैठा है। शरीर के कारण ही माता, पिता, पुत्र, स्त्री, भ्राता आदि विविध व्यक्तियों के साथ विविध सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।

इसी मोह भाव के कारण आत्मा अपने बन्धन के लिए कर्म-बन्ध स्वयं तैयार करता है। कर्म का बन्धन होता तो पौद्गलिक है[1] किन्तु आत्मा के मोहमय भावों के प्रभाव से वे जड़ कर्म भी मोह-उत्पादक प्रभाव से प्रभावित हो जाते हैं, जिससे समय आने पर मोह कर्म आत्मा पर मोह का प्रभाव डालता है। जैसे कोई शराबी स्वयं नशीली शराब तैयार करता है और जब वह उस शराब को पीता है तब वह शराब उस मनुष्य को अपने प्रभाव से मूर्छित कर देती है। इसी तरह संसारी जीव शारीरिक मोह के कारण अपने भावों से कर्म बन्धन करता है और वह कर्म-बन्ध इस जीव को अपने प्रभाव से विकृत कर देता है। इस तरह भाव कर्म से द्रव्य कर्म, और द्रव्य कर्म से भाव कर्म बनता रहता है, कर्म-बन्धन की परम्परा चलती रहती है।

कर्म बन्धन का मूल कारण वह एक मिथ्या श्रद्धा ही है जिसके कारण जीव शरीर में अपनापन प्रगट किया करता है। किन्तु शरीर निजी वस्तु नहीं, न सदा आत्मा के साथ वह रहता है, कभी उत्पन्न होता है, कभी नष्ट होता है, कभी बढ़ता है, कभी घटता है, अतः आत्मा शरीर में अपनापन मानकर कभी सन्तुष्ट, शान्त, सदा सुखी नहीं बन पाता, सदा व्याकुल बना रहता है।

यदि कभी आत्मा को सौभाग्य से किसी सद्गुरु का समागम उपलब्ध हो जाता है, तो वे दयालु होकर मोह-ग्रस्त संसारी जीव को अपने परम हित उपदेश से सावधान करते हैं कि 'जिस सुख-शान्ति के लिये तू बाहर भटक रहा है, सुख-शान्ति का वह अथाह सागर तो तेरे भीतर (शरीर में नहीं, आत्मा में) हिलोरें ले रहा है। कस्तूरी-हिरण की नाभि में कस्तूरी होती है, उसकी मोहक सुगन्धि में वह हिरण मस्त हो जाता है, किन्तु भ्रम से वह उस सुगन्धि को अपने भीतर न समझकर बाहर की कोई अन्य वस्तु समझता है, अतः इधर-उधर दौड़ता-फिरता दूसरी-दूसरी चीजों को सूंघता-सूंघता थक जाता है। किन्तु उसकी इच्छा-तृप्ति नहीं हो पाती। वैसे ही दशा तेरी है। अतः बाहर की ओर से अपनी विचारधारा हटाकर अपने अंतरंग की ओर उन्मुख हो, अन्तर्मुख होने पर ही तुझे शान्ति प्राप्त होगी, तेरी आकुलता दूर होगी और तेरी परतन्त्रता के बन्धन ढीले होंगे। तेरे भीतर अपार अक्षय निधि भरी हुई है तू अपने आपको दीन-हीन क्यों समझ रहा है, एक बार अपनी ओर देख तो सही।"

---

१. "मूलभूत पुद्गल पदार्थ तो अविभागी परमाणु ही है। उनके परस्पर बंध से ही जगत् के चित्र-विचित्र पदार्थों का निर्माण होता है जो स्कंध कहलाते हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये पुद्गल के प्रसिद्ध गुण हैं।"

—जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग ३—क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, पृ०—६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीनबन्धु पतितपावन सद्‌गुरु की इस हितवाणी को सुन कर जब जीव की मिथ्या श्रद्धा में परिवर्तन आता है, जब उसके हृदय में आत्म-श्रद्धा जाग्रत होती है, तब मिथ्या श्रद्धा का जनक (उत्पादक) मोहनीय कर्म स्वयं इस प्रकार दूर हो जाता है जिस तरह विस्तृत खुले मैदान में सूर्य उदय होने पर रात का अन्धेरा लापता हो जाता है, ढूंढ़ने पर भी वहाँ कहीं नहीं दीख पाता। मिथ्या श्रद्धा का गहन अन्धकार हटते ही इस जोव के भीतर आत्म-ज्योति जगमगा जाती है जिससे आत्मा को अपनी अनुभूति होने लगती है। उस स्व-आत्म-अनुभूति से इस जीव को जो महान् अनुपम आनन्द प्राप्त होता है, वह संसार के किसी भी इष्ट भोग्य-उपभोग्य पदार्थ के अनुभव से नहीं मिलता। वह निज-आत्मा का आनन्द न तो कहा जा सकता है, न किसी उपमा से प्रगट किया जा सकता है। जैसे गूंगा मनुष्य किसी विषय के सुख को स्वयं अनुभव तो करता है परन्तु किसी अन्य व्यक्ति को बतला नहीं सकता, ठीक ऐसी ही बात आत्म-अनुभवी की हो जाती है। उस आत्म-अनुभव को जैन दर्शन में 'सम्यग्दर्शन' कहा है।

सम्यग्दर्शन होते ही जीव की विचारधारा तथा कार्यप्रणाली में महान् परिवर्तन आ जाता है। उसे फिर अपने आत्मा के सिवाय अन्य किसी पदार्थ में रुचि नहीं रहती। वह बाहरी पदार्थों को छूता हुआ भी उनमें रत (लीन) नहीं होता—अछूता-सा रह जाता है। स्वादिष्ट पदार्थों को जीभ पर रखता हुआ, दांतों से उसे चबाता हुआ भी उनके स्वाद से अनजान बना रहता है, जैसे गोम्मटसार की टीका करते समय पं० टोडरमल जी को दाल-शाक में पड़ा हुआ कम-अधिक नमक मालूम नहीं होता था।

आत्म-अनुभव प्राप्त व्यक्ति को सुगन्धित पदार्थों की सुगन्धि अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाती। उसके नेत्र सुन्दर रंगीले पदार्थों को देखकर भी अदेखे-से बने रहते हैं। वह सुन्दर पदार्थों को देखकर उनमें तन्मय या मुग्ध नहीं हुआ करता। उसके कान सब कुछ सुनकर भी अनसुने-से रहते हैं। गीत-वाद्य में उसे आनन्द अनुभव नहीं होता।

उस समय वह यदि कुछ छूना चाहता है तो संसार-विरक्त वीतराग गुरुओं के चरण छूना चाहता है। यदि जीभ से कुछ करना चाहता है तो वीतराग-कथा या आत्मगुण-कथन करना चाहता है। नेत्रों से सदा वीतराग भगवान् व गुरु का दर्शन करना चाहता है तथा शास्त्र पढ़ना चाहता है तथा कानों से जिनवाणी, गुरु का उपदेश सुनना चाहता है। उसकी मानसिक-वृत्ति संसार से विरक्त और आत्मा की ओर संलग्न हो जाती है।

वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी, गृहस्थाश्रम के सब कार्य करता हुआ भी, उनसे इस प्रकार अलिप्त-अछूता रहता है जिस तरह कीचड़ में पड़ा हुआ सोना मैला नहीं होने पाता या जल में रहता हुआ भी कमल जल से अछूता रहता है। भरत चक्रवर्ती इस आत्म-अनुभव के कारण षट्खण्ड का अधिनायक और ९६००० स्त्रियों का पति होकर भी, समस्त भोग-सम्भोग का भोग-उपभोग करता हुआ भी विरक्त रहता था। इसी का परिणाम यह हुआ कि दीक्षा लेकर आत्मध्यान में बैठते ही उसका मोहकर्म तथा अन्य घाति-कर्म क्षय होकर केवल-ज्ञान हो गया।

सम्यग्दर्शन होते ही जब ज्ञान और आचरण ठीक धारा में बह उठते हैं तब उनका नाम सम्यग्दर्शन सच्चारित्र (स्वरूपाचरण आदि) हो जाता है। ऐसा व्यक्ति अवश्य स्वल्पकाल में संसार से मुक्त हो जाता है। यदि कुछ समय संसार में रहता है, तो अच्छे पद पर प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत करता है। दुर्गति, दीनकुल, दरिद्रघर, हीनांग, अधिकांग, विकल शरीर नहीं पाता। स्त्री, नपुंसक शरीर उसे नहीं मिलता, सम्यग्दर्शन से पहले नरकायु बन्ध कर लेने वाला प्रथम नरक से नीचे नहीं जाता। स्थावर, विकलत्रय तथा निम्नश्रेणी का देव नहीं होता।

अनुकम्पा

फलों को चार भागों में बांटा जा सकता है—१. जो भीतर और बाहर से नीरस हैं, जैसे—सुपारी। २. जो बाहर मीठे हैं किन्तु भीतर से नीरस हैं, जैसे—बेर। ३. जो बाहर नीरस या कठोर हैं किन्तु भीतर से नम्र, स्वादिष्ट हैं, जैसे—बादाम। ४. जो बाहर भी कोमल, मीठे, सरस हैं और भीतर भी मीठे, कोमल, सरस हैं, जैसे—अंगूर। ठीक इसी प्रकार मनुष्यों की चार श्रेणियां हैं—१. जिनका हृदय भी कोमल है और वाणी तथा शारीरिक प्रवृत्ति भी कोमल है। २. जिनका हृदय कोमल है किन्तु जो बेलाग सत्य साफ कह देते हैं। वह वचन चाहे सुनने वाले को मीठा प्रतीत न हो। ३. जो बाहर से मीठे हों, जिनकी वाणी और व्यवहार सरस रुचिकर दीखता हो किन्तु हृदय कठोर व काला हो। ४. जिनका हृदय भी कठोर तथा काला हो और जिनका वचन भी कठोर व अप्रिय हो, साथ ही शरीर भी भयानक हो।

पहली श्रेणी के मनुष्य अति सज्जन होते हैं, जैसे कि महाव्रती साधु। वे प्रिय वचन बोलते हैं। अत्यन्त दयालु होने से उनकी शारीरिक प्रवृत्ति भी दूसरों के लिये हितकारी होती है। किसी भी प्राणी को वे लेशमात्र कष्ट नहीं देते। यदि कोई मूर्ख उनको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राण-नाशक कष्ट भी देता है तो भी वे उस पर क्रोधित नहीं होते, वे उसको शुभ आशीर्वाद ही देते हैं। रात-दिन स्व-कल्याण, पर-उपकार करना जिनका कार्य होता है। वे उत्तम पुरुष कहलाते हैं।

दूसरी श्रेणी के मनुष्य सज्जन होते हैं। उनके हृदय में दूसरों के लिये सद्भावना होती है। दूसरों की उन्नति देखकर जिन्हें हर्ष होता है, किन्तु बोलने में साफ-साफ सत्य कह देते हैं। वह बात यदि किसी को अप्रिय लगती है तो लगे, उन्हें चिन्ता नहीं होती। मीठा बोलकर दूसरों को प्रसन्न करना, चापलूसी, खुशामदी वचन करने की जिन्हें आदत नहीं होती। वे बाहर से कठोर प्रतीत होते हैं, सरस नहीं दिखाई देते। स्वार्थ-साधन के लिये अन्य व्यक्ति को हानि नहीं पहुंचाते, परन्तु स्वार्थ का घात करके जो परोपकार भी नहीं करते, यानी—जिस कार्य में अपने को हानि न हो ऐसा परोपकार का कार्य कर देते हैं। ऐसे पुरुष मध्यम कहलाते हैं।

तीसरी श्रेणी के मनुष्य भीतरी दुष्ट होते हैं। उनका बाहरी व्यवहार मीठा होता है। वे बहुत मीठा बोलते हैं। सभ्य भाषा में दूसरों का मन अपनी ओर खींच लेते हैं, जिनके शारीरिक आचरण में भी कठोरता नहीं दिखाई देती, बहुत शिष्ट-सज्जन प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका हृदय मीठा नहीं होता। उनका हृदय काला होता है। मन में दूसरों को हानि पहुंचाने की भावना बनी रहती है। दूसरों की हानि या पतन से जिन्हें हर्ष होता है। स्वार्थ-साधन के लिये जिन्हें अन्य जीवों को कष्ट देने में भी संकोच नहीं होता, "मुख में राम बगल में छुरा" आदि उपाधियां जिन पर चरितार्थ होती हैं। ऐसे मनुष्य दुष्ट कहे जाते हैं।

चौथी श्रेणी के मनुष्यों का बाहरी और भीतरी बर्ताव कठोर होता है। उनका मन भी काला होता है और उनके वचन भी कड़ुवे होते हैं। जिनकी आकृति भी भयानक होती है, जिनको देखते ही जानवरों तक को डर लगता है। जो किसी का उपकार करना तो जानते ही नहीं। दूसरों को हानि पहुंचाने के लिये यदि उन्हें अपनी भी कुछ हानि करनी पड़े तो भी वे अच्छा समझते हैं। दूसरों की हानि होते देखकर या सुनकर जिनको बहुत हर्ष होता है, जिन्हें मारना-कूटना, गाली-गलौच देना, क्लेश करना, भय उपजाना, शोर मचाना, अन्य का अपमान करना रात-दिन प्रिय मालूम होता है। ऐसे लोग महादुष्ट या अधम कहे जाते हैं।

इसी तरह की मिलती-जुलती श्रेणियाँ पशुओं में भी होती हैं। गाय आदि अनेक पशु-पक्षी ऐसे होते हैं जो किसी अन्य जीव को कष्ट नहीं देते। स्वयं कष्ट सह कर लोक-कल्याण के लिये अमृत जैसा गुणकारी दूध देते हैं। हिरण, कबूतर आदि निरामिषभोजी (मांस न खाने वाले) भोले जीव ऐसे हैं जो किसी को कष्ट तो नहीं देते किन्तु किसी का उपकार भी नहीं करते। बगुला, सारस आदि ऐसे जीव हैं जो बाहर से उज्ज्वल साधु जैसे दीखते हैं। एक टांग उठाकर ध्यानी साधु की तरह खड़े हो जाते हैं, परन्तु भीतर से इतने काले होते हैं कि मछली नजर आते ही झट दबोच लेते हैं। संसार में भोजन के लिये असंख्य पदार्थ हैं किन्तु वे मछलियां पकड़ कर ही खाते हैं। कौवा, मगर, काला सर्प, भेड़िया, तेंदुआ, चीता आदि अनेक ऐसे जानवर हैं जो बाहर से भी भयानक एवं काले हैं और जिनका हृदय भी काला होता है। सदा बुरे पदार्थ खाना, दुष्टता से दूसरे जीवों को दुख देना जिनका स्वभाव है, कभी किसी का भला करना तो जिनको आता ही नहीं।

परन्तु मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो अच्छे संस्कारों में आ जाए तो महान् स्व-पर उपकारी साधु बन जाए, जगत् के कल्याण के लिये सभी संभव कार्य कर डाले और यदि वह कुसंस्कारों में पड़ कर दुष्ट प्रकृति धारण कर ले तो ऐसा महादुर्जन कुकर्मी बन जाता है कि संसार में उसके समान भयानक जीव भी न मिल सके। मनुष्य सातवें नरक तो जा ही सकता है किन्तु उसके परिणाम इतने भयानक, दुष्ट, उग्र हो जाते हैं कि उस समय सातवें नरक की आयु बांधने के भावों से भी अधिक बुरे भाव होते हैं जिनसे कि किसी भी आयु का बन्ध नहीं होता, क्योंकि संसार में सातवें नरक से भी बढ़कर दुःखदायी कोई स्थान नहीं पाया जाता।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह स्वभावतः परिवार तथा समाज के साथ रहा करता है। अकेला-दुकेला रह कर उसका निर्वाह नहीं हो सकता। मनुष्यों में जब तक आपस का सहयोग व सहानुभूति न हो तब तक उनका जीवन-निर्बाह नहीं हो सकता। अतः जो मनुष्य अति दुष्ट प्रकृति के महाभयानक प्राणी माने जाते हैं उनका निर्वाह भी अकेले नहीं होता। उन्हें भी कुछ न कुछ अपना समाज (समुदाय) बनाना ही पड़ता है, तभी वे जीवित रह सकते हैं।

सामाजिक रूप में रहने के लिये मनुष्य के हृदय में सहानुभूति (हमदर्दी) का होना आवश्यक है। मनुष्य यदि अपने समाज के जाति भाइयों का सुख-दुःख अनुभव न करे, उनके सुख-दुःख में भाग न बंटावे तो वह समाज के रूप में कदापि नहीं रह सकता। वैसे तो यह बात अतिदुष्ट पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है। वे भी अपना झुण्ड बना कर रहते हैं, परन्तु वे अकेले रह कर भी अपना जीवन बिता लेते हैं। सिंह प्रायः अकेला ही रहता है, परन्तु मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता।

तो हां, जिस सहानुभूति गुण के कारण मनुष्य समाज के रूप में रहता है उस सहानुभूति की माता (उत्पन्न करने वाली) है 'अनुकम्पा', जिसका प्रसिद्ध नाम दया है। दया गुण के कारण मनुष्य का हृदय दूसरे का दुःख देखकर पिघल जाता है, व्याकुल हो जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, रो उठता है और स्वयं ऐसी सद्भावना प्रगट होती है कि उस दुःखी जीव का दुःख दूर हुए बिना शान्ति नहीं आती। उस दुःख को दूर करने में चाहे अपने को कुछ कष्ट भी क्यों न उठाना पड़े। यह दया का भाव मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक होता है, किसी की प्रेरणा पर ही नहीं होता।

एक दयाचन्द्र नामक युवक था। एक दिन गर्मियों में वह दोपहर के समय एक वृक्ष के नीचे खड़ा हुआ विश्राम कर रहा था। सूर्य की किरणों से जमीन गर्म तवे की तरह तप रही थी। उसी समय दयाचन्द्र ने देखा कि उस पेड़ से एक बीछू जमीन पर रेत में गिरा है। गर्म रेत में पड़ कर वह तड़फड़ाने लगा। यह देखकर दयाचन्द्र को दया आई, उसने बीछू को उठा कर पेड़ की ठंडी छाया में रखना चाहा, परन्तु बीछू को उठाते ही बीछू ने दयाचन्द्र के हाथ में डंक मारा।

बीछू के काटने से दयाचन्द्र को बहुत पीड़ा हुई। उसने ज्योंही अपना हाथ झटकारा कि बीछू फिर गर्म रेत में गिर कर तड़फड़ाने लगा। बीछू को देखते ही दयाचन्द्र अपना दुःख भूल गया। उसने फिर बीछू को उस रेत में से उठाकर छाया में रखना चाहा। ज्योंही उसने बीछू उठाया कि बीछू ने छूते ही फिर डंक मारा। दुबारा काटने से दयाचन्द्र के हाथ से बीछू रेत में ही गिर पड़ा और गर्म रेत में पहले की तरह तड़फड़ाने लगा। दयाचन्द्र से बीछू का दुःख न देखा गया और उसने बीछू के प्राण बचाने के लिये बीछू को उठाया। बीछू ने तीसरी बार भी दयाचन्द्र को काटा परन्तु अबकी बार दयाचन्द्र ने उसे छाया में रख ही दिया।

वहाँ देखने वाले मनुष्यों ने दयाचन्द्र से कहा कि 'तू बहुत मूर्ख है, बीछू के बार-बार काटने पर भी उसे उठाता ही रहा।' दयाचन्द्र ने उत्तर दिया कि मैं क्या करूं ? मुझसे उसका तड़फड़ाना नहीं देखा गया। यदि बीछू ने अपनी डंक मारने की आदत नहीं छोड़ी तो मैं दया करने की अपनी आदत कैसे छोड़ देता। ?

इसी दया भाव के कारण मनुष्य दूसरों का दुःख दूर करने के लिये झट तैयार हो जाता है। दूसरों का दुःख दूर करते हुए कभी-कभी दयालु मनुष्य अपने प्राणों की भी चिन्ता न करके भयानक विपत्ति में फंस जाते हैं, दूसरों को बचाते हुए स्वयं मर भी जाते हैं।

अभी दो-तीन मास पहले मध्यप्रदेश की एक कोयले की खान में ११२ मजदूर कोयला खोद कर निकाल रहे थे कि अचानक पास की दूसरी खान के स्रोत से उस खान में पानी भरने लगा। तब सब मजदूर अपने प्राण बचाने के लिये लिफ्ट से बाहर आने लगे। पानी बहुत तेजी से खान में भर रहा था। लिफ्ट भी उन्हें शीघ्र बाहर निकालने के लिये कार्य कर रही थी। एक मजदूर जो खान से बाहर आ गया था वह खान में फंसे हुए दूसरे मजदूरों को बचाने के लिए लिफ्ट द्वारा बार-बार खान में जाता था और मजदूरों को बाहर ले आता था। पाँचवीं बार जब वह खान में गया तो उसने दूसरे मजदूरों को तो लिफ्ट में चढ़ा दिया परन्तु आप न चढ़ सका और वहीं ८० फुट भरे हुए पानी में डूब कर मर गया।

इस प्रकार दयालु पुरुष दूसरों की रक्षा करने में अपने कष्टों को भूल जाते हैं, इसी दया भाव के कारण मनुष्यों में परस्पर प्रेमभाव बना हुआ है और प्रेम के कारण मनुष्य आपस में मिलजुल कर रहते हैं। परिवार, जाति, समाज के संगठन इसी आपसी प्रेम के कारण बने हुए हैं।

कुत्ता अपने जाति भाई दूसरे कुत्ते को देखकर उसे काटने के लिये दौड़ता है और यदि उसे कोई न रोके तो वह दूसरे कुत्ते को मार ही देता है। इस आपसी द्वेष और निर्दयता के कारण कुत्तों का आपसी संगठन नहीं दिखाई देता और न वे बड़ी संख्या में कहीं रहते हैं। दूसरे पशु आपस में प्रेम से रहते हैं। एक दूसरे का दुःख दूर करने में परस्पर सहायता करते हैं। अतः उनका झुण्ड इकट्ठा भी रहता है। अतएव संगठन का मूल कारण 'दया या अनुकम्पा' है।

दया आत्मा का एक स्वाभाविक गुण है, जो कि प्रत्येक जीव में पाया जाता है। क्रो जानवर प्रकृति के होते हैं उनके हृदय में भी दया का अंश रहता है जिससे कि वे अपने बच्चों को दुःख नहीं होने देते। बड़ी सावधानी से चौकन्ने रहकर उनका पालन-पोषण करते हैं। भेड़िया बहुत निर्दय दुष्ट जानवर है। परन्तु उसे भी कभी-कभी दूसरों पर दया आ जाती है। इसी कारण जब वह खाने के लिये मनुष्य के बच्चे को उठा ले जाता है, तब कभी-कभी उसे दया आ जाती है और उस मनुष्य के बच्चे को मारता नहीं बल्कि उसे अपने बच्चों की तरह ही पाल लेता है। मादा भेड़िया उसे अपना दूध पिलाकर पाल लेती है। भेड़ियों द्वारा पाले गये ऐसे अनेक बालक-बालिकायें भेड़ियों की मांद से मिले हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी तरह अन्य खूंख्वार भयानक पशुओं तथा दुष्ट मनुष्यों के हृदय में भी अनुकम्पा छिपी रहती है जिससे कि अपने बच्चों तथा संबंधियों को दु:खी देखकर उनका मन व्याकुल हो उठता है। इससे जाना जाता है कि दूसरों को मारना, सताना, दु:ख देना पाप है और दूसरे जीवों पर दया करना बड़ा धर्म है।

बुद्धिमान् मनुष्यों का कर्तव्य है कि सदा दीन-दु:खी जीवों पर अनुकम्पा करके उनके दु:ख दूर करते रहें। जो मनुष्य दयालु चित्त होते हैं, दूसरे जीव उनसे डरते नहीं हैं। निडर होकर उनके पास आ जाते हैं। उनसे प्रेम करते हैं। खूंख्वार निर्दय पशुओं पर भी उनके दयाभाव का प्रभाव पड़ता है और वे भी उन दयालु पुरुषों के सामने अपनी क्रूरता छोड़ देते हैं।

अतः इस महान् धर्म को कभी न छोड़ना चाहिये। अपने घर पर यदि कोई भूखा आए तो स्वयं अपना भोजन उसको करा दो। पशु, पक्षी, कीड़ा, मकोड़ा कोई भी जीव हो सदा सब पर दया करते रहो।

धार्मिक पुरुष का मुख्य चिह्न दया है। जैनधर्म दया पर आश्रित है। अतः संसार के दु:खी जीवों का अपनी शक्ति के अनुसार दु:ख मिटाना प्रत्येक जैन का कर्तव्य है।

तृष्णा

संसार के समस्त प्राणी इन्द्रियों के दास बनकर एक ही दिशा में दौड़े जा रहे हैं। अपने मन वचन और शरीर की शक्ति का उपयोग अपनी इन्द्रियों की प्यास बुझाने के लिये या इन्द्रियों को प्रसन्न करने के लिये कर रहे हैं। इसी भाग-दौड़ में उनकी सारी आयु बीत जाती है, सारा बल-विक्रम नष्ट हो जाता है परन्तु उनकी प्यास नहीं बुझ पाती। जिस तरह खारा पानी पीने से प्यास बुझती नहीं है, और अधिक बढ़ती है, इसी प्रकार इन्द्रियों के विषय-भोग पहले तो अपनी इच्छानुसार मिलते नहीं हैं क्योंकि प्रत्येक प्राणी को इतनी तृष्णा है कि वह समस्त संसार के पदार्थ अकेला ही ले लेना चाहता है, तब अनन्त प्राणियों की इच्छा कहीं पूर्ण हो सकती है !

आत्मानुशासन में श्री गुणभद्र आचार्य ने कहा है—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यत्र विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथातो विषयैषिता ॥

प्रत्येक प्राणी को इतनी दीर्घ आशा लगी हुई है कि उसकी आशा के गहरे गड्ढे को भरने के लिये समस्त संसार परमाणु समान दीखता है। इस दशा में किस-किस जीव की आशा पूर्ति के लिये सांसारिक वस्तुओं का कितना-कितना हिस्सा आ सकता है ? अर्थात् सारे संसार के पदार्थों से एक जीव की भी आशा पूर्ण नहीं हो सकती तब समस्त जीवों की इच्छा पूर्ण होने के लिये कुछ भी नहीं रहता। इस कारण विषयों की इच्छा करना व्यर्थ है।

हाथी जैसा विशालकाय और महाबलवान प्राणी कागज की बनी हुई हथिनी को सच्ची हथिनी समझ कर उससे अपनी विषय-वासना तृप्त करने के लिये उसकी ओर दौड़ता है। उसको पता नहीं होता कि जहाँ वह कागज की हथिनी रक्खी है उसके नीचे खड्डा बना हुआ है। परिणाम यह होता है कि वह हाथी वहां पहुंचते ही उस खड्डे में जा पड़ता है, और मनुष्य वहां से उसे पकड़ कर ले जाते हैं, फिर जन्म भर उसे पराधीनता में रहना पड़ता है।

मछियारे मछली पकड़ने के लिये लोहे के कांटे पर जरा-सा आटा लगा देते हैं। मछली उस आटे को खाने के लिये ज्यों ही उस पर झपटती है कि वह लोहे का कांटा उसके गले में फंस जाता है और जीभ की लालसा पूर्ण करने के लिये वह अपने प्राणों से हाथ धो लेती है।

भौंरा सुगन्धि का बड़ा लोभी होता है। सुगन्धित पदार्थों को सूंघने के लिये उधर जा पहुंचता है। सूंघते-सूंघते वहाँ से हटना नहीं चाहता, और कभी-कभी तो अपने प्राण भी वहीं दे बैठता है। कमल का फूल दिन में खिलता है और रात्रि को बन्द हो जाता है। दिन में उस खिले हुए कमल के फूल पर भौंरा उसकी सुगन्धि सूंघने आ बैठता है, और सूंघते-सूंघते वहीं बैठा रहता है। अनेक बार रात को भी उस कमल के भीतर रह कर अपने प्राण तक दे डालता है।

अपनी आंखों की प्यास बुझाने के लिये पतंगा रात को दीपक, लालटेन, बिजली के जलते हुए बल्व पर झपटता है और वहीं पर जल कर मर जाता है। आजकल रात में असंख्य पतंगे प्रतिदिन इसी तरह अपने प्राणों की बाजी लगाकर अपनी आंखों की लालसा पूरी करने का यत्न करते हैं और उसी तरह यत्न में मर जाते हैं।

हिरण को मीठे सुरीले बाजे की ध्वनि सुनने में बहुत रुचि होती है। इसी कारण हिरणों को पकड़ने के लिये कुछ मनुष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जंगल में जाकर सुरीला बाजा बजाते हैं। बाजे का मधुर स्वर सुनने के लिये हिरण उधर चला आता है और शिकारी के हाथों में अपने कानों की इच्छा पूर्ण करते हुए फंस जाता है।

इस तरह एक-एक इन्द्रिय के दास हाथी, मछली, भौंरा, पतंगा और हिरण अपने आपको विपत्ति में डाल देते हैं तो पांचों इन्द्रियों का दास यह मनुष्य तो अनेक विपत्ति उठाता ही रहता है।

मनुष्य जब यह देखता है कि इन्द्रियों के विषय-भोग धन के द्वारा प्राप्त होते हैं तो धन कमाने की आशा में बुरे से बुरे और कड़े से कड़े काम करने पर उतारू हो जाता है। देश विदेश में घूमना, आकाश में उड़ना, नदी नाले लांघना, समुद्र में यात्रा करना, पृथ्वी के नीचे खानों में घुसना, धनिक लोगों की गुलामी करना, चोरी करना, विश्वासघात करना, अनीति करना, डाका डालना, अत्याचार करना, हिंसा करना, व्यभिचार करना-कराना आदि सभी बुरे से बुरे कार्य मनुष्य रुपया-पैसा पाने की आशा में किया करता है। धन की आशा में सब किसी नीच, ऊंच, दुराचारी, दुष्ट, निर्दय, अयोग्य पुरुष की चाकरी करने लगता है। एक कवि ने कहा है—

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

जो मनुष्य आशा के चाकर बने हुए हैं, वे सारे संसार के चाकर हैं यानी धन की आशा दिखाकर कोई भी मनुष्य उन्हें अपना नौकर बना सकता है। और जो मनुष्य आशा को अपनी दासी बना लेते हैं यानी आशा को अपने वश में कर लेते हैं सारा संसार उनका दास बन जाता है।

बड़े-बड़े धनिक सेठ, राजे, महाराजे, सम्राट्, चक्रवर्ती आशा के चक्कर में पड़ कर सदा चिन्ताकुल बने रहते हैं। उन्हें अपने धन तथा राज्य को बढ़ाने की तथा उनको सुरक्षित रखने की चिन्ता लगी रहती है। उसी चिन्ता के कारण ये रात को निश्चिन्त होकर सो भी नहीं सकते। उनको सदा चोर-डाकुओं राजविप्लव, आक्रमण आदि का भय बना रहता है। भोजन भी सन्तोष से नहीं कर पाते। उन्हें उसमें भी विष आदि मिलने की आशंका बनी रहती है। इस तरह बड़ी सम्पत्ति और राज्य पाकर भी सुख से न खा पी सकते हैं, न आराम से सो सकते हैं। सदा कैदियों की तरह पहरेदारों के पहरे में बाहर आते-जाते हैं। इस तरह आशा तृष्णा का शिकार यह मनुष्य किसी भी तरह सुख-शांति नहीं पाता।

इसी कारण एक कवि ने कहा है—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संछिन्द्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥

किसी विषय की आशा बहुत दुःखदायक है, आशा छोड़ देना बहुत सुखदायक है। पिङ्गला ने जब अपने प्रियतम की आशा छोड़ दी तो उसने सुख की नींद ली।

पिङ्गला नामक एक वेश्या थी। उसके एक प्रेमी ने एक बार पिङ्गला को एक स्थान पर मिलने का संकेत किया। पिङ्गला उस स्थान पर नियत समय पर पहुंच गई और अपने प्रेमी के आने की प्रतीक्षा करने लगी। अपने प्रेमी की आशा में बैठे-बैठे जब पिङ्गला को बहुत समय बीत गया और उसका प्रेमी नहीं आया, तब पिङ्गला के हृदय में विवेक जाग्रत हुआ कि मेरा सच्चा प्रियतम तो मेरा भगवान् है जो कि हृदय में सदा रह सकता है। यदि मैं अपने हृदय से बुरी वासनाओं के कूड़े को झाड़-बुहार कर निकाल फेंकूं तो प्यारा भगवान् सदा मेरे पास रहेगा। मैं उन दुराचारी स्वार्थी प्रेमियों की आशा में अपना जीवन क्यों खराब करूं।

ऐसा विचार कर उसने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया और कामवासना के प्रेमी अपने सब मित्रों की आशा छोड़कर, धन-भोगों की आशा छोड़ कर भगवान् की भक्ति में लग गई और बहुत आराम से रहने लगी।

इसी प्रकार जो आशा के पाश में फंसे रहते हैं वे दुःखी बने रहते हैं। जो सब तरह की आशाओं को छोड़ कर अपने प्रियतम आत्मा में तन्मय हो जाते हैं वे परमसुखी हो जाते हैं। चक्रवर्ती सम्राटों को राज्य करते हुए विषय-भोगों में शांति और तृप्ति नहीं मिली। जिस समय वे विषय-भोगों की आशा छोड़ कर घर-बार राज-पाट से सम्बन्ध तोड़कर साधु बन गये तब उनको शांति और सुख स्वयं अपने आत्मा में ही मिल गया।

जिस तरह मनुष्य यदि अपने शरीर की छाया को पकड़ने दौड़े तो छाया हाथ नहीं आती, आगे-आगे भागती चली जाती है। यदि मनुष्य उसको पकड़ना छोड़कर अपने मार्ग पर चला चले तो वही छाया मनुष्य के पीछे स्वयं चलने लगती है। इसी तरह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य धन की आशा में दौड़ता फिरता है किन्तु शुभ कर्म के बिना वह हाथ नहीं आता। यदि वह आशा की मात्रा घटा कर शुभ कार्य करता जाए तो लक्ष्मी स्वयं उसके पैरों पर लोटने लगेगी।

हम अपनी आत्मनिधि को भूल चुके हैं और उस भौतिक धन को पाने के लिये लालायित हो रहे हैं जो कि न तो आत्मा के साथ रहा और न कभी रहेगा। धन की आशा मनुष्य को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर नहीं रहने देती। जिसके पास कुछ नहीं है वह कुछ सौ रुपये चाहता है। जब उसके पास सैकड़ों हो जाते हैं तब वह हजारपति बनना चाहता है। हजारपति हो जाने पर भी उसको सन्तोष नहीं होता तब वह लखपति बनना चाहता है। सौभाग्य से यदि वह लखपति बन जावे तब भी उसकी आशा शान्त नहीं होती और वह कोटिपति बनने की आशा में चिन्तातुर हो उठता है।

एक नगर में एक धनिक सेठ रहता था। उसके पास काफी धन था, फिर भी उसकी इच्छा बढ़ती ही जाती थी जिससे रात-दिन धन संचय में लगा रहता था, आराम से न भोजन करता था, न कुछ समय अपने परिवार के साथ बिताता था, न आराम से सोता था।

उसके पास में एक सन्तोषी ब्राह्मण रहता था जो कि केवल एक दिन की भोजन-सामग्री संचित रखता था। एक दिन सेठ के घर अच्छा भोजन बना। रात को कुछ भोजन अपने पड़ौसी ब्राह्मण के घर भेजा, किन्तु ब्राह्मण ने यह कह कर भोजन लौटा दिया कि मेरे घर कल के लिये भोजन-सामग्री रक्खी हुई है।

सेठानी ने सेठ से ताना मारते हुए कहा कि देखो ब्राह्मण की सन्तोष वृत्ति को और अपनी आशा तृष्णा को। सेठ ने उत्तर दिया कि ब्राह्मण निन्यानवें (९९) के फेर में आकर सब सन्तोष भूल जाएगा। ऐसा कह कर सेठ ने एक रुमाल में ९९ रुपये बांध कर चुपचाप ब्राह्मण के आंगन में डाल दिये।

ब्राह्मण जब सवेरे उठा तो उसने ९९ रुपये की पोटली अपने आंगन में पड़ी पाई। रुपये देखकर ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ उसने ब्राह्मणी से कहा कि किसी तरह अधिक परिश्रम करके एक रुपया और कमाऊंगा जिससे ये १००) रुपये हो जाएँगे। यह सोच कर उसने कुछ अधिक दौड़-धूप करके ९९) से १००) कर लिये। फिर उसने सोचा कि सौ रुपये ठीक नहीं होते इन्हें सवा सौ करना ठीक रहेगा। यह सोच कर अपने आराम का समय कम करके और अपने भोजन में से बचत करके उसने कुछ दिन में सवा सौ रुपये कर दिये। फिर उसने विचार किया ये रुपये २५०) होने चाहियें। तब सवा सौ रुपये और जोड़ने में तन्मय हो गया।

इस तरह ब्राह्मण पर आशा और लोभ का भूत ऐसा सवार हुआ कि वह सेठ से भी अधिक धन संचय में लग गया। समय पर भोजन करना, सोना, विश्राम करना सब कुछ भूल गया। तब सेठानी से सेठ बोला कि देखा निन्यानवें रुपये का फेर, ब्राह्मण की सन्तोषवृत्ति कहां चली गई?

इसी प्रकार सारी जनता धन संचय के चक्कर में न कुछ धर्मध्यान करती है, न परोपकार में कुछ समय लगाती है, न पर्याप्त विश्राम करती है। रात-दिन लोभ की चक्की चलाते-चलाते अपना अमूल्य समय नष्ट कर देती है। जीवन समाप्त हो जाता है किन्तु आशा समाप्त नहीं होती।

मनुष्य-जीवन में जीवन के मूल्यवान् क्षण यदि सफल करने हैं तो आशा के दास मत बनो! प्रभात होते ही सबसे पहले भगवान् का दर्शन करो, पूजन करो, स्वाध्याय, सामायिक करो, फिर शुद्ध भोजन करके न्याय नीति से व्यापार, उद्योग आदि करो। भाग्य पर विश्वास रक्खो, भाग्य से अधिक एक कौड़ी भी न मिलेगी। अतः नियत समय पर धर्म-साधन, भोजन, व्यापार, विश्राम आदि सारे कार्य करो। धर्म-आराधन, परोपकार, दान, दीन-दुःखियों की सेवा करने से व्यापार में धन-संचय में सफलता मिलती है।

लोभ

संसार में प्रायः सब चीजों की सीमा है। पृथ्वी की सीमा है, समुद्र की सीमा है, पर्वत की सीमा है, लोक और आकाश की भी सीमा है। भूख लगती है तो वह भी किसी सीमा तक रहती है। भोजन कर लेने पर तृप्त हो जाती है। उसके बाद कुछ नहीं खाया जाता। प्यास लगती है, पानी पी लेने पर शान्त हो जाती है। उसके बाद पानी पीने की इच्छा नहीं रहती। हम किसी अनदेखी वस्तु को देखना चाहते हैं, जब उसको खूब अच्छी तरह देख लेते हैं, तो फिर उधर से चित्त हट जाता है। किसी उपदेश, भाषण या गायन सुनने की इच्छा होती है तो उस भाषण या गायन को सुन लेने पर कान तृप्त हो जाते हैं। इसी तरह अन्य इन्द्रियों के विषय भी भोग लेने पर कुछ सीमा तक शान्त हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रोध कषाय बड़ी दुर्द्धर्ष कषाय है।[1] क्रोध के कारण मनुष्य का चित्त ठिकाने नहीं रहता। प्रलय-सी मचा देना चाहता है, परन्तु लड़-झगड़ कर मार-कूट कर क्रोध का नशा भी उतर जाता है। अपने आप शान्ति आ जाती है। अभिमान भी अपनी अकड़ दिखला कर, दूसरे को नीचा दिखा कर तथा किसी का अपमान कर देने के बाद शान्त हो जाता है। अभिमानी को बड़प्पन दे देने पर अभिमानी पुरुष प्रसन्न हो जाता है।

मायाचारी कपटी पुरुष जब अपने छल-कपट में सफल हो जाता है, धोखा-धड़ी के प्रपंच से किसी की हानि तथा अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेता है तब उसको भी शान्ति मिल जाती है।

परन्तु संसार में एक चीज ऐसी भी है जिसकी कोई भी सीमा नहीं, उसका नाम है लोभ। लोभ की सीमा कभी भी समाप्त नहीं होती। जितना यह जगत् है ऐसे अनन्त जगत् एक मनुष्य के लोभ में पूरे नहीं हो सकते। इसी बात को श्री गुणभद्राचार्य ने अपने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में निम्नलिखित श्लोक द्वारा प्रगट किया है—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यत्र विश्वमणूपमम्।

कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता॥

अर्थात्, प्रत्येक प्राणी का लोभ रूपी गड्ढा इतना गहरा है जिसमें यह विशाल जगत् एक परमाणु के बराबर है, यानी—प्रत्येक प्राणी अनन्त जगत् को हड़प कर जाने का लोभ अपने हृदय में रखता है। ऐसी दशा में किस-किस जीव का लोभ शान्त करने के लिए क्या-क्या कितना भाग (हिस्सा) आ सकता है। यानी—एक जीव का हिस्सा भी पूरा नहीं हो सकता, इस कारण हमारी विषय भोगों की तृष्णा (इच्छा) व्यर्थ है।

इसी लोभ के कारण प्रत्येक जीव संचयशील बना हुआ है। चूहे अपने बिलों में अन्न एकत्र कर लेते हैं। चींटियां अपने बिल में एक-एक कण चुनकर इतना भोजन एकत्र कर लेती हैं कि वर्षा के दिनों में यदि उन्हें बाहर आने का अवसर न मिले तो वे भी भूखी न रहें। वृक्षों की जड़ें भी उसी ओर फैलती हैं जिस ओर उनको खाने-पीने का खाद-पानी मिलता है। एक कहावत प्रचलित है कि पेड़ की जड़ें भी धन की ओर जाती हैं।

जब चींटी पेड़ जैसे जीवों की लोभ तृष्णा का यह हाल है तब मनुष्य के लोभ का तो क्या कहना! भिखारी भीख मांगने निकलता है, उसको पेट भर भोजन मिल जाता है, फिर भी वह भीख मांगना बन्द नहीं करता। इसी कारण हजारों रुपये बैंक में जमा रखने वाले भिखारी भी मिल सकते हैं। दिल्ली में ५० भिखारियों पर भीख मांगने के अपराध में २०० रुपये जुर्माना किया गया। जुर्माने की रकम भिखारियों ने वहीं जमा कर दी। एक भिखारिणी के पास बैंक की पासबुक निकली जिसमें ६०० रुपये जमा थे। उसकी जमानत देने उसका पुत्र आया जो गजेटेड आफीसर था। सरकारी आफीसर की माता भी धन-संचय के विचार से भीख मांगने लगी।

छोटा अबोध बच्चा रोता है। उसके हाथ में पैसा पकड़ा दीजिये। पैसे का मूल्य न समझने वाला वह शिशु भी पैसा पाकर चुप रह जायेगा और पैसे को मुट्ठी में इतने जोर से दबायेगा कि फिर छोड़ने का नाम भी न लेगा। इस तरह संचय-शीलता बचपन से ही प्रारम्भ हो जाती है। पैसा ज्यों-ज्यों मिलता जाता है त्यों-त्यों लोभ की रस्सी भी रबड़ की तरह बढ़ती चली जाती है। रबड़ का तनाव तो कहीं पर रुक जाता है परन्तु लोभ का तनाव कहीं पर समाप्त नहीं होता।

एक दरिद्र ब्राह्मण की कन्या का विवाह था। किन्तु उस गरीब के पास कन्यादान के समय कुछ भी देने को न था, तब बहुत कुछ सोच-विचार कर वह राजा के पास गया और नम्रता के साथ उसने राजा से कहा कि मुझे अपनी पुत्री के कन्यादान के समय वर को देने के लिए तीन माशा सोना चाहिए।

राजा ने ब्राह्मण की छोटी-सी मांग देखकर अपने खजांची के नाम पर्चा लिखकर ब्राह्मण को दे दिया। पर्चे में राजा ने लिख दिया **'यह ब्राह्मण जो कुछ मांगे सो इसको दे देना।'**

पर्चा लेकर ब्राह्मण खजांची के पास गया। मार्ग में ब्राह्मण ने सोचा कि राजा ने इसमें देने की कुछ सीमा तो लिखी नहीं है, अब लेना मेरी इच्छा पर निर्भर है। मैं जितना भी मांगूंगा, खजांची उतना दे देगा। तो मैं तीन माशा सोना ही क्यों मांगू ? ३००) रुपये क्यों न मागूँ, परन्तु तीन हजार रुपये ठीक रहेंगे जिससे विवाह धूम-धाम से हो जाए। फिर उसको लोभ ने सताया। तब उसने विचार किया कि जब मांगने ही चला हूं तब तीन लाख रुपये ही क्यों न मांग लूँ। इस पर भी उसका लोभ समाप्त न हुआ। उसने

१. "आत्मा के भीतरी कलुष परिणाम को कषाय कहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार प्रसिद्ध कषाय हैं।"

—जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग २—क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, पृ० ३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आखिर यह निर्णय किया कि राजा के खजाने में क्या कमी है, ऐसा अवसर भी मुझे कभी न मिल सकेगा। अतः खजांची से तीन करोड़ रुपये माँगूंगा जिससे जन्म भर के लिये मेरी दरिद्रता समाप्त हो जाये। फिर कभी किसी से कुछ न मांगना पड़े।

वह खजांची के पास पहुंचा और उसके हाथ में राजा का पर्चा दिया। खजांची ने पर्चा पढ़कर ब्राह्मण से पूछा कि देवता! कितनी रकम चाहिये?

ब्राह्मण ने कहा तीन करोड़ राजमुद्रा (रुपये)।

खजांची ब्राह्मण की मांग सुनकर चकित रह गया। उसने राजा के पास समाचार भेजा कि ब्राह्मण तीन करोड़ रुपये मांगता है, सो क्या इतनी रकम इसे दे दी जाए?

राजा भी खजांची का समाचार सुनकर दंग रह गया। उसने ब्राह्मण को अपने पास बुला... पूछा—'माशत्रयस्य कार्यं त्रिकोट्या नैव सिद्धयति'—तेरी मांग तीन माशे सोने की थी सो अब वह तीन करोड़ रुपये तक पहुंच गई, क्या इतने ...भी काम हो जायेगा या नहीं?

राजा की बात सुनकर ब्राह्मण को होश आया कि मैं लोभ के कारण कहाँ क... कहाँ पहुच गया। उसने राजा को उत्तर दिया—

'शृणु राजन् महाभाग! लाभाल्लोभः प्रजायते'—हे राजन्! धन के मिलने से लोभ बढ़ता जाता है। इसी कारण मैं तीन माशे सोने से तीन करोड़ रुपये पर जा पहुंचा।

इसी प्रकार मनुष्य की तृष्णा निन्यानवें के चक्कर में पड़कर बढ़ती चली जाती है। इस लोभ तृष्णा का प्रयोग भोले अनभिज्ञ धर्मात्मा अपने धर्म-आचरण में भी करते हैं। श्री महावीर जी तीर्थ क्षेत्र की वन्दना करने वाले अधिकतर स्त्री-पुरुष अपनी सांसारिक इच्छाओं और कामनाओं का जाल भगवान् महावीर स्वामी के सामने भी फैला देते हैं। जो भगवान् महावीर पूर्ण वीतराग तथा संसार से मुक्त हैं उनके समक्ष राग-द्वेष, मोह-ममता आदि विकार दूर करने की भावना करनी चाहिये, सो ऐसा न करके कोई स्त्री-पुरुष अपने घर में पुत्र की कामना करते हैं, कोई भगवान् से धन-सम्पत्ति मांगते हैं, कोई अपने पुत्र-पुत्री के विवाह हो जाने की प्रार्थना करते हैं; अपनी इन लोभमयी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये सोना-चांदी के छत्र चढ़ाते हैं, मानो भगवान् महावीर छत्रों के लोभवश उनकी इच्छाएं पूर्ण कर जाएंगे।

जिन भगवान् महावीर ने घर में रहते हुए भी सुन्दरी राजकन्या से विवाह करने के प्रस्ताव को ठुकरा कर ब्रह्मचर्य धारण किया था, वे भगवान् महावीर किसी के विवाह कराने और किसी के पुत्र उत्पन्न करने में क्या सहयोग या वरदान देंगे। जिन वीर प्रभु ने स्वयं राज्य वैभव का परित्याग करके निर्ग्रन्थ[1]-साधु पद स्वीकार किया, वे पूर्ण मुक्त भगवान् महावीर दूसरों को धन प्रदान कर संसार के माया जाल में क्यों डालेंगे? खेद है कि जिस भगवान् की भक्ति-स्तुति से लोभ माया दूर होने की भावना करनी चाहिये उन वीतराग प्रभु से भी अज्ञानी व्यक्ति सांसारिक लोभ अंकुरित करने की कामना करते हैं। इसीलिए नीतिकार ने कहा है—'**अर्थी दोषं न पश्यति**' यानी—स्वार्थी पुरुष दोषों का विचार नहीं करता।

छोटे-से लोभ को पूरा करने के लिये यत्न किया जाता है तो उसके पूर्ण होते ही उसके स्थान पर दूसरा बड़ा लोभ आ खड़ा होता है। जब वह पूर्ण होने को होता है तब उसकी जगह उससे भी बड़ा लोभ उत्पन्न हो जाता है। सारांश यह है कि यह लोभ रूपी दानव प्रारम्भ में छोटे आकार में दिखाई देता है परन्तु बढ़ते-बढ़ते लोकाकाश के बराबर हो जाता है, जिसको शांत करना असम्भव हो जाता है। अधिकांश व्यक्ति लोभ में अपने प्राण भी गंवा देते हैं।

लोभ को दूर करने का सफल और सरल उपाय सन्तोष है। प्रत्येक मनुष्य को अपने गृहस्थाश्रम को चलाने के लिये न्याय, नीति और परिश्रम से धन के उपार्जन का यत्न तो अवश्य करना चाहिये परन्तु साथ ही यह भी निश्चय रखना चाहिए कि लाभ उतना ही होगा, जितना हमने शुभ कर्म कमाया होगा। यदि शुभ कर्म का उदय न हो तो व्यापार में लाभ नहीं होता। एक साथ एक-सा ही व्यापार बहुत-से मनुष्य करते हैं परन्तु जिसके शुभ कर्म का उदय नहीं होता उसको सफलता नहीं मिलती और जिसके शुभ कर्म का उदय होता है, उसको व्यापार में खूब लाभ होता है। इसलिए अल्प लाभ या अलाभ होने पर यह समझकर सन्तोष करना चाहिए कि हमने पूर्व जन्म में जितनी शुभ कर्म की कमाई की थी उतना ही मिलेगा, एक पाई भी उससे अधिक न मिल सकेगी।

---

१. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय में जो भी बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रह (ग्रन्थ) का परित्याग है, उसे निर्ग्रन्थता समझना चाहिए। —जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग २)—क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, पृ० ६२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके अतिरिक्त लोभ का विष उतारने के लिए अपनी इच्छाओं को संयमित-परिमित करना चाहिए। अपनी आवश्यकताओं को कम करके सादे रहन-सहन का अभ्यास करना चाहिए तथा अपने परिग्रह (मकान, धन, वस्त्र, आभूषण आदि) की अपनी आवश्यकता के अनुसार सीमा कर लेनी चाहिए। 'मैं इतना संचय करूंगा, इससे अधिक न करूंगा।'—ऐसा परिमाण कर लेने पर भी लोभ का विष दूर हो जाता है।

इस तरह लोभ से बचने का उपाय 'त्याग' करना है। ग्रहण या संचय करने मे लोभवृत्ति कम नही होती, बढ़ती ही जाती है।

भय

श्रा प० आशाधरजी ने संसारी जीवों के विषय में लिखते हुए 'सागरधर्मामृत' में एक वाक्य-खण्ड दिया है 'चतुःसंज्ञाज्वरातुराः'—संसारी जीव आहार, परिग्रह, भय और मैथुन—इन चार संज्ञाओं रूपी ज्वर से पीड़ित हैं अर्थात् ये चारों संज्ञाएं प्रत्येक जीव को पीड़ा प्रदान किया करती हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखने में आ रही है। प्रत्येक जीव चाहे एकेन्द्रिय वृक्ष आदि स्थावर हो और चाहे द्विन्द्रिय त्रस आदि हो, मनुष्य हो या पशु पक्षी या देव, वह आहार अवश्य करता है, क्योंकि इस भौतिक शरीर की प्राकृतिक बनावट इस तरह की है कि कुछ समय के अंतराल से (केवलज्ञानी के परम औदारिक शरीर के अतिरिक्त) सभी को भूख लगती है। उस भूख का उपशम करना प्रत्येक जीव के लिए अनिवार्य हो जाता है। उत्पन्न होते ही बच्चा सबसे पहले यदि कोई पदार्थ चाहता है तो वह भोजन ही है। उसकी इच्छा को उसकी माता समझ ले, इसके लिये वह रोना प्रारम्भ कर देता है और पूर्वभव के संस्कार से दूध पीने आदि प्रक्रिया द्वारा अपनी भूख मिटाना उसे बिना किसी के सिखाये स्वयं आ जाता है। एकेन्द्रिय पेड़ भी अपनी जड़ों के द्वारा पृथ्वी से पानी और खाद खींच कर अपनी भूख शान्त किया करते हैं। उन्हें यदि खाद, पानी और अपनी भूख के योग्य नहीं मिलता तो वे मुरझाकर, सूख कर मर जाते हैं, जैसे बच्चों को भूख मिटाने के लिये भोजन न मिलने से उनकी मृत्यु हो जाती है। इस तरह प्रत्येक जीव को आहार संज्ञा प्राप्त होती है।

अपने लिये भोजन आदि सामग्री एकत्र करने की आदत भी सब किसी की होती है। प्रत्येक जीव, मनुष्य, पशु-पक्षी अपने रहने के लिए मकान, घोंसला, बिल आदि स्थान अवश्य बनाते हैं और उस मकान में जीवनोपयोगी वस्तुएं भी एकत्र किया करते हैं। चूहों के बिलों में बहुत-सा अनाज इकट्ठा रहता है। चींटियां भी रात-दिन भोजन इकट्ठा करती रहती हैं। प्रत्येक जीव को अपने शरीर से तो मोह ममता होती ही है, पर-पदार्थ से मोह ममता का नाम ही परिग्रह है। इस तरह समस्त जीव परिग्रह संज्ञा के चक्कर में भी पड़े हुए हैं।

एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के जीव, सम्मूर्छन जीव तथा नरक निवासी तो सभी केवल नपुंसक लिंग वाले होते हैं, देवों में स्त्री-वेद पुंवेद ही है, नपुंसक वेद उनमें नहीं होता। शेष सभी पशुओं तथा मनुष्यों में स्त्री, पुरुष, नपुंसक पाये जाते हैं। अपने-अपने लिंग के अनुसार सभी जीवों की कामवासना होती है। पुंवेद की कामवासना फूंस की अग्नि की तरह शीघ्र उत्पन्न होने वाली तथा शीघ्र शान्त होने वाली होती है। स्त्री-वेद की कामवासना कंडे (उपले) की अग्नि के समान ऊपर से शान्त किन्तु भीतर से उग्र होती है और नपुंसक की कामवासना ईंटों के भट्टे के समान ऊपर प्रतीत न होकर भीतर उग्रता से धधकने वाली होती है। इस तरह विभिन्न संसारी जीवों को काम-वेदना हुआ करती है। विभिन्न दो प्राणियों का परस्पर काम-सेवन करना मैथुन संज्ञा है। यह निम्न श्रेणी के जीवों में अधिक और उच्च श्रेणी के जीवों में अल्पमात्रा में पाई जाती है। पशुओं में सिंह सबसे अधिक बलवान् होता है अतः वह पशुओं का राजा कहलाता है। वह सिंह वर्ष में केवल एक बार सिंहनी से कामवासना करता है। उसी से सिंहनी गर्भवती हो जाती है। तदनन्तर दोनों पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहते हैं। गाय, भैंस आदि के विषय में भी ऐसी ही बात है। १६ स्वर्ग से ऊपर के अहमिन्द्र देव १६ स्वर्गवासियों की अपेक्षा अधिक सुखी होते हैं किन्तु न वहाँ कोई देवी होती है, न वे कभी आयु भर किसी से मैथुन किया करते हैं। फिर पुंवेद कर्म के कारण उनमें मैथुन संज्ञा का अस्तित्व माना गया है। कारण न मिलने से वह वहाँ पर कार्यकारी नहीं होती। इस तरह मैथुन संज्ञा भी संसार के प्रत्येक प्राणी में पाई जाती है।

चौथी संज्ञा 'भय' है। अन्य संज्ञाओं की तरह यह संज्ञा समस्त जीवों में होती है। इसी कारण निर्बल, छोटे-बड़े, स्थावर, जंगम, नर, पशु, नारकी, देव, सभी जीवों को सदा किसी न किसी तरह का भय बना रहता है। सिंह सबसे बलवान् पशु है किन्तु मृत्यु और अग्नि से वह भी डरता है। सरकस में रिंग मास्टर के चाबुक की फटकार के भय से उसी बलवान् सिंह को अग्नि में से निकलना पड़ता है। मक्खियों के काटने के डर से वह अंधेरी गुफा में जाकर सोता है। मृत्यु-भय तो अहमिन्द्र को भी भीरु बना देता है। इस तरह भय संज्ञा से भी कोई जीव छूटा हुआ नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भय के सात भेद हैं—१. इह लोक सम्बन्धी भय, २. परलोक सम्बन्धी भय, ३. मरण भय, ४. वेदना भय, ५. अरक्षा भय, ६. अगुप्ति भय ७. अकस्मात् भय।

प्रत्येक जीव अपने वर्तमान भव में अनेक प्रकार के भयों से सदा भयभीत बना रहता है। पुत्र, स्त्री, मित्र आदि न छूट जायें, मेरा धन नष्ट न हो जाए, मेरी मान-प्रतिष्ठा मिट्टी में न मिल जाए, मेरा कोई अंग-भंग न हो जाए, मेरी पुत्री बहिन को वैधव्य न आ जाए, मेरी स्त्री-पुत्री आदि का अपमान न हो जाए, मेरे पुत्र की आजीविका छिन्न-भिन्न न हो जाए। मेरा मकान, जमीन आदि न छिन जाए, मेरी अपकीर्ति न फैल जाए, मेरा या मेरे परिवार का कोई अंग भंग न हो जाए, मेरा शरीर लकवा आदि से निष्क्रिय न बन जाए, मैं असहाय न हो जाऊं इत्यादि इस लोक-सम्बन्धी अनेक प्रकार के भय मनुष्य को सतत् सताते रहते हैं।

परलोक में पता नहीं मुझे कैसा कुल मिलेगा ?, कैसे घर में मेरा जन्म होगा ?, कैसा मेरा परिवार होगा ?, कैसा मेरा शरीर, रूप-रंग तथा अंगोपाङ्ग होंगे ?, पुत्र भार्या आज्ञाकारी होंगे या नहीं?, धन होगा या नहीं ?, दीर्घायु होगी या नहीं ?, जीवन में सुख शान्ति हो सकेगी या नहीं ?, कहीं नरक में तो न जाना पड़ेगा ?, कहीं पशुगति का शरीर तो न मिलेगा, कीड़े मकोड़ों की योनि में तो कहीं जन्म न लेना पड़ेगा, कहीं फिर निगोद भव में तो दुर्दशा न उठानी होगी ? इत्यादि अनेक प्रकार से परभव के विषय में दु:खदायक अशान्तिजनक परिस्थितियां से भयभीत होना 'परलोक' भय है।

संसारी जीव को और कोई भय हो या न हो किन्तु अपने मरने का भय तो प्रत्येक जीव को होता ही है। मरण से बचने के लिए यह जीव यथा-संभव सभी यत्न करता है। टट्टी का कीड़ा भी मृत्यु से उतना डरता है जितना कि देवों का अधिपति इन्द्र।

अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये।
समाना जीविताकांक्षा समं मृत्युभयं द्वयोः॥

टट्टी में रहने वाले कीड़े तथा स्वर्ग में रहने वाले इन्द्र की जीवन की इच्छा और मृत्यु का भय एक समान है।

अपने आप को मृत्यु से बचाने के लिए मनुष्य या अन्य कोई जीव अपनी समस्त सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने परिवार, का त्याग करने के लिये तैयार हो जाता है।

शरीर में ज़रा-सा कांटा चुभता है, उसकी पीड़ा भी कोई नहीं उठाना चाहता। जीवन में अनेक तरह की दुर्घटनाएं हो जाती हैं जिससे शरीर क्षत-विक्षत हो जाता है। उसकी भारी वेदना तो जीव स्वप्न में भी नहीं सहना चाहता। इसी कारण संसारी जीवों को सदा भय बना रहता है कि कहीं मुझे आंख, कान, नाक, शिर में पीड़ा न हो जाय, दांत, गले, छाती, पेट में किसी तरह की वेदना न हो, हाथ पैर आदि अंग-उपांग में कोई ऐसा भयानक रोग न हो जाए जिसके दर्द से मैं बेचैन हो जाऊं ? इत्यादि वेदना (शारीरिक पीड़ा) का भय जीव को सदा बना रहता है।

प्रत्येक जीव अपने जीवन की सुख-शान्ति बनाने के लिए रक्षा के अनेक साधन जुटाता है। फिर भी उसे भय बना रहता है कि कभी कोई आपत्ति मेरे ऊपर न आ जाए जिससे बचाने वाला कोई न हो। मेरे अनेक शत्रु हैं, कहीं अकेले होने पर मुझे कोई मार पीट न दे। सोते समय रात में आकर कोई मेरा माल न उठा ले जाए। पापकर्म के उदय से कोई ऐसा दु:ख न आ जाय जिससे कि छुटकारा न मिल सके। इस तरह **अरक्षा भय** से जीव भयभीत बने रहते हैं।

मनुष्य अपने परिवार, धन, सम्पत्ति आदि की रक्षा के लिये अच्छा मजबूत मकान बनाता है, दृढ़ किवाड़ फाटक लगाता है, मजबूत ताले लगाता है फिर भी उसे डर लगा रहता है कि कोई सेन्ध लगा कर, सीढ़ी लगाकर या कमन्द से मकान में न घुस आए। किसी तरह ताला न टूट जाए, तिजोरी खोलकर कोई माल न निकाल ले जाए। अपने माल को सुरक्षित रखने के लिए जो प्रबंध मैंने किए हैं वे पर्याप्त नहीं हैं—इत्यादि अगुप्ति भय जीव को सदा लगा रहता है।

मनुष्य पर बिना सोची-विचारी अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आ जाती हैं। उनसे भी सब कोई डरता रहता है कि कहीं घर में आग न लग जाए, कहीं आते-जाते कोई मकान मेरे ऊपर न गिर पड़े, मोटर गाड़ी आदि की दुर्घटना में न फंस जाऊं, अचानक कोई ऐसी विपत्ति न आ खड़ी हो जिसमें मेरा सम्मान चला जाए। मैं मुख दिखाने योग्य न रहूं। इत्यादि अनेक प्रकार के अकस्मात् भय से यह जीव सदा भयभीत रहता है।

इस तरह इन सात प्रकार के भयों से संसारी जीव सदा भयभीत रहते हैं। किन्तु भयभीत वही होता है जिसका हृदय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वच्छ नहीं होता। पापवासना जिसके हृदय में बनी रहती है। संसार में प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि पापी सदा भयभीत रहता है। वह लुक-छिप कर हिंसा, कत्ल, चोरी, व्यभिचार, बेईमानी करता है। अतः उसका हृदय काँपता रहता है कि कहीं भेद खुल गया तो इसी भव में फांसी, जेल आदि का दण्ड भुगतना पड़ेगा। कहीं परभव में भी दुर्गति न सहनी पड़े, कहीं हंटरों की मार न खानी पड़े। पापकर्म जो बांधा है उससे कोई आपत्ति न आ जाए। इत्यादि सातों तरह के भय पापी को सदा डराते रहते हैं।

धर्मात्मा का हृदय शुद्ध स्वच्छ रहता है। वह निश्चित होकर सर्वत्र घूमता है। उसको पुलिस, सेना आदि का कुछ भी भय नहीं होता। सत्य व्यवहार के कारण वह सदा निर्भय रहता है। धर्म-कार्य करते रहने से संसार में उसका कोई शत्रु नहीं होता। सभी जीव उसके मित्र होते हैं। वह पुण्य कर्म उपार्जन करता है। अतः उसे न इस लोक में कोई भय होता है, न वह मरने से डरता है क्योंकि उसे निश्चय होता है कि मरने के पश्चात् मुझे नरक आदि में न जाना पड़ेगा। इस तरह उसे अरक्षा, अकस्मात्, वेदना आदि कोई भी भय नहीं होता।

जिस मनुष्य को आत्म श्रद्धा हो जाती है, उस मनुष्य को शरीर से ममता नहीं होती। वह तो इस शरीर को अपने लिये कुछ दिन तक का किराये का मकान समझता है। उसे तो अपने आत्मा की ओर ही लग्न होती है। उसको दृढ़ श्रद्धा होती है कि मेरी आत्मा अजर-अमर है, न वह कभी मरता है न जन्म लेता है। आत्मा को कोई शस्त्र न काट सकता है, न अग्नि जला सकती है, न पानी गला सकता है। जलना, कटना, गलना, सूखना आदि शरीर का होता है, सो मुझे कोई प्रयोजन नहीं। मेरे आत्मा में जिस कार्य से अशान्ति पैदा हो ऐसे राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ, हिंसा आदि मुझे न करना चाहिये।

जैसी मैंने पहले भव में कर्मों की कमाई की है उसका वैसा फल मुझे अवश्य मिलेगा। यदि अपने अशुभ कर्म के फल में कुछ धन की हानि, शरीर का कष्ट, पुत्र आदि का मरण मुझे हो तो उस फल को शांत भाव से सह लेना चाहिये क्योंकि रोने-पीटने से वह दुःख कम न होगा, अधिक मालूम होगा और आर्त ध्यान से आगे के लिये दुःखदायक बंध होगा। धन आदि से उसे मोह नहीं होता। इसलिए न उसको इस लोक का भय होता है, न परलोक का, न मरण का, न वेदना का, न अरक्षा का, न अगुप्ति का और न अकस्मात् भय से वह डरता है। वह अपनी अजर-अमर आत्मा में तन्मय रहता है। इसलिए निर्भय बनने के लिये आत्मश्रद्धा तथा धर्म का आचरण करना चाहिए।

शान्ति

आत्मसुख का मार्ग ही शांति का मूल कारण है। इसीलिए महान् पुरुष संसार में रहते हुए भी हमेशा शांति की भावना किया करते हैं, जैसे कि भर्तृहरि संसार में रहते हुए इस प्रकार की भावना किया करते थे :—

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भक्ष्यमक्षय्यमन्नम्,
विस्तीर्णं वस्त्रमाशा सुदिशकमलं तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषां निःसंगतांगी करणपरिणतिः स्वात्मसन्तोषिणस्ते,
धन्याः संन्यस्त-दैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ॥

वे ही प्रशंसा के भाजन हैं, वे ही धन्य हैं, उन्होंने ही कर्म की जड़ काट दी है—जो अपने हाथों के सिवा और किसी पात्र की आवश्यकता नहीं समझते, जो घूम-घूम कर भिक्षा का अन्न खाते हैं। जो दशों दिशाओं को ही वस्त्र समझ कर नग्न रहते हैं, जो सारो पृथ्वी को ही अपनी निर्मल शय्या समझते हैं, जो दीनता से घृणा करते हैं और जिन्होंने आत्मा में ही सन्तोष कर लिया है

संसार का प्रत्येक जीव सुख और शान्ति चाहता है। दुःख और अशान्ति कोई भी जन्तु अपने लिये नहीं चाहता। परन्तु संसार में सुख-शान्ति है कहाँ? प्रत्येक जीव किसी न किसी कारण से दुःखी पाया जाता है। जन्म, मरण, भूख, प्यास, रोग, अपमान, पीड़ा, भय, चिन्ता, द्वेष, घृणा, प्रिय-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि दुःख के कारणों में से अनेक कारण प्रत्येक जीव को लगे हुए हैं। इसी कारण प्रत्येक जीव किसी न किसी तरह व्याकुल है और व्याकुलता ही दुःख का मूल है। निराकुलता ही परम सुख है। अनन्त निराकुलता कर्मों के क्षय हो जाने पर प्राप्त होती है। इस मुक्ति के साधन तप, त्याग, संयम, सुखशान्ति के साधन हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व-राग, द्वेष, क्षोभ आदि विकृत भाव कर्मबन्ध के कारण हैं। ये ही विकृत भाव दुःख और अशान्ति के साधन हैं।

गृहस्थ स्त्री-पुरुषों को परिवार के पालन-पोषण की चिन्ता रहती है। उस चिन्ता को कम करने के लिये वे धन-संचय परिग्रह एकत्र करने में लग जाते हैं। उस धन-परिग्रह का उपार्जन तथा संचय करते हुए कभी किसी पर क्रोध, किसी के साथ मान, किसी से माया, लोभ आदि करने पड़ते हैं। उनसे ही मानसिक तथा शारीरिक दुःख होता है। परिग्रह त्यागी मुनिराज को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धन-संचय, परिग्रहसंचय की चिन्ता नहीं होती। अतः उनको मानसिक दुःख, चिन्ता और अशान्ति भी नहीं होती। यों बाहर से देखने वाले उनको नग्न अकिंचन देखकर अपने मोटे विचार से उनको भले ही दुःखी मान बैठें परन्तु सूक्ष्मदर्शी बुद्धिमान समझते हैं कि एकान्त-वासी, नग्न, अपरिग्रही मुनि महान् सुखी हैं। नीतिकार ने कहा है—

चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा, क्षुधातुराणां न वपुर्न तेजः।
अर्थातुराणां न सुहृन्न बन्धुः, कामातुराणां न भयं न लज्जा॥

चिन्तायुक्त स्त्री-पुरुषों को न तो नींद आती है और न किसी तरह का सुख होता है। चिन्ता के कारण उन्हें अशान्ति बनी रहती है। भूखे मनुष्य के शरीर में न बल रहता है, न तेज। स्वार्थी मनुष्य का न कोई मित्र होता है, न भाई आदि कोई सम्बन्धी होता है और कामातुर मनुष्य को न किसी तरह की लज्जा रहती है, न भय। इस तरह चिन्ता महान् दुःख का मूल है।

चिता चिन्ता समाख्याता, बिन्दुमात्रं विशेषता।
चिता दहति निर्जीवं, चिन्ता किन्तु सजीवकम्॥

मृतक मनुष्य को जलाने की 'चिता' और 'चिन्ता' ये दोनों शब्द प्रायः बराबर हैं, केवल एक बिन्दी का ही दोनों में अन्तर है। परन्तु इनके अर्थ में महान् अन्तर है क्योंकि चिता तो निर्जीव मनुष्य को जलाती है किन्तु चिन्ता जीवित मनुष्य को जला देती है।

जब तक लड़के पढ़ते रहते है, तब तक विद्यार्थी-अवस्था में निश्चिन्त सुखी रहते हैं। उनके माता-पिता स्वयं कष्ट सहन करके भी उनकी पढ़ाई की व्यवस्था बनाये रखते हैं। उन विद्यार्थियों को धनोपार्जन आदि की चिन्ता नहीं रहती। जब कोई विद्यार्थी नव यौवन की उमंगों में अपनी जीवन-सहचरी पाने को लालायित होकर जब अपने विवाह की तैयारी में योग देता है तभी से उसके ऊपर चिन्ता का भूत सवार हो जाता है। जब उसका विवाह हो जाता है तब कुछ दिन तो कामवासना में रात-दिन डूबा रहता है, तदनन्तर गृहस्थाश्रम चलाने के लिये रुपये-पैसे तथा विविध पदार्थों के संग्रह की चिन्ता सवार हो जाती है। यदि कहीं सौभाग्य या दुर्भाग्य से कोई सन्तान हो गई तो उसका जीवन और भी विपत्ति में फंस जाता है। एक अनुभवी व्यक्ति ने विवाहित मनुष्य की स्थिति यों बताई है—

'भूल गये राग रंग, भूल गये जकड़ी, तीन चीजें याद रहीं, नोन तेल लकड़ी'।

एक युवक ने बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने गुरु को यह शुभ समाचार सुनाया कि 'गुरु जी! मेरी **मंगनी** हो गई है।' अनुभवी गुरु ने उसे उत्तर दिया कि 'मूर्ख! तेरी **मंगनी** नहीं हुई, तेरी **टंगनी** हुई है।' तेरे टंगने (फंसने) का फंदा तेरे गले में आ पड़ा है। कुछ दिन पीछे उसी नवयुवक ने मुस्कराते हुए अपने गुरु को कह सुनाया कि 'गुरुजी! मेरी **शादी** हो गई है।' गुरु ने इसके उत्तर में कहा कि 'मूर्ख! तू प्रसन्न होता है, तेरी **शादी** नहीं हुई बल्कि तेरे जीवन की **बर्बादी** शुरू हो गई है।

इस तरह अशान्ति और दुःख का कारण एक तो गृहस्थाश्रम के लिये विविध परिग्रह का संचय करना है। अशान्ति का दूसरा कारण 'अविवेक से जल्दबाजी में काम करना' है। मनुष्य विवेक से खूब सोच-विचार करके जो कार्य करता है, वह कार्य ठीक होता है। उसमें दुःख नहीं मिलता, न चिन्ता का अवसर आता है। राजा भोज के समय में एक कवि ने एक श्लोक बनाया—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥

अर्थात् जल्दबाजी में कोई कार्य नहीं कर डालना चाहिये। अविवेक (कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान न होना) अनेक बड़ी विपत्तियों का घर है। सोच-विचार करके कार्य करने वाले मनुष्य को अनेक सम्पत्तियां स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं।

उस कवि को अपने इस श्लोक पर अच्छा विश्वास और अभिमान था। उसको एक बार रुपयों की आवश्यकता हुई। तब वह एक धनिक सेठ के पास गया। उसने सेठ से कहा कि मुझको एक हजार रुपये की आवश्यकता है आप मुझको मेरा एक श्लोक बन्धक (गिरवी) रख कर मुझे रुपया दे दें। जब मेरे पास पास रुपये आ जावेंगे तब मैं अपना श्लोक आपको रुपये देकर वापिस ले जाऊंगा। सेठ ने श्लोक को अच्छी नीति से पूर्ण समझ कर गिरवी रखकर उस कवि को एक हजार रुपया दे दिया। सेठ ने वह श्लोक अपने शयनकक्ष में मोटे सुन्दर अक्षरों में लिखवा दिया। कुछ दिन पीछे सेठ के घर एक पुत्र का जन्म हुआ। बहुत हर्ष मनाया गया और उसका लालन-पालन बड़े प्रेम से होने लगा! जब उसका पुत्र ५ वर्ष का हो गया तब सेठ अपने घर का समस्त प्रबन्ध करके परदेश को चला गया। व्यापार करते-करते सेठ को ११-१२ वर्ष विदेश में हो गये। तब वह बहुत-सा धन कमा कर अपने घर वापिस लौटा। जब अपने नगर में पहुँचा तब रात्रि हो गई थी। सेठ दबे पैर अपने घर जा पहुंचा। घर में पहुँच कर उसने देखा कि उसकी पत्नी एक युवक के साथ एक ही चारपाई पर सो रही है। सेठ ने सोचा कि 'दीर्घकाल तक परदेश में रहने के कारण सेठानी ने किसी युवक से मित्रता करली है, उसी युवक के साथ वह सो रही है। मेरी पत्नी चरित्र-भ्रष्ट हो गई है।' ऐसा सोच कर उसको अपनी पत्नी तथा उसके साथ सोते हुए उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युवक के ऊपर बहुत क्रोध आया और उसने दीवार पर टंगी हुई तलवार से दोनों का सिर काट देने का विचार किया कि उसी समय उसकी दृष्टि उस श्लोक पर जा पड़ी। श्लोक देखते ही वह सचेत हो गया। उसने सोचा 'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।' अर्थात् जल्दबाजी में कोई कार्य नहीं करना चाहिए, अविवेक अनेक आपत्तियों का घर है।' वह तलवार खींचने से रुक गया। उसने ठीक बात जानने के लिए अपनी सेठानी को जगाया। सेठानी तुरन्त उठ बैठी। उसने देखा कि उसका पति आ गया है। प्रसन्नता से वह फूली न समाई। तत्काल उसने अपने साथ सोते हुए उस युवक को जगाया और कहा 'पुत्र! उठ, देख तेरे पिता जी आ गए हैं। इनके चरण छू। तू जब पाँच वर्ष का था तब ये परदेश में व्यापार करने गये थे। आज ११-१२ वर्ष पीछे लौट कर आये हैं।'

सेठ को यह जानकर कि सेठानी के साथ सोने वाला नवयुवक उसी का अपना पुत्र है, उसकी आशंका दूर हो गई। वह उस नीति के श्लोक पर बहुत प्रसन्न हुआ कि इस श्लोक ने मेरे वंश का नाश होने से बचा लिया। इस हर्ष के उपलक्ष्य में उस सेठ ने उस कवि को बुलाकर एक हजार रुपया और पारितोषिक दिया। सारांश यह है कि अविवेक और जल्दबाजी दुःख और अशान्ति का कारण बन जाते हैं। नीतिकार ने कहा है—'सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं सुदीर्घकालेपि न याति विक्रियाम्।' अर्थात् अच्छी तरह चिन्तवन करके जो कुछ कहा जाए और खूब विचार कर जो कार्य किया जाए, उस वचन और कार्य में दीर्घकाल तक भी कुछ बिगाड़ उत्पन्न नहीं होता। इस कारण प्रत्येक कार्य को सोच-समझ कर करना चाहिये।

अशान्ति का एक प्रमुख कारण क्रोध कषाय है। मनुष्य क्रोध में अंधा होकर अपनी विवेक बुद्धि को खो बैठता है। उसका मन बेकाबू हो जाता है। अतः मुख से गाली आदि अपशब्द बकने लगता है, और जिस पर उसे क्रोध आता है, उसे मार-पीट डालता है। अपना घात कर लेता है, आग लगा लेता है, मार काट कर डालता है। इस तरह बड़ी अशान्ति और क्लेश पैदा कर देता है।

एक काले सर्प के फण पर एक मक्खी आ बैठी। उसने फण हिलाया, मक्खी उड़ गई। फिर वहां आ बैठी। साँप ने फिर फण हिला कर उड़ा दिया, किन्तु मक्खी बार-बार उसके फण पर आकर बैठने लगीं। सर्प को मक्खी पर बहुत क्रोध आया। उसने मक्खी को मार डालना चाहा। सामने सड़क पर एक बैलगाड़ी जा रही थी। सर्प ने यह विचारा कि मैं गाड़ी के पहिये के नीचे अपना फण रख दूंगा जब गाड़ी का पहिया मक्खी पर आएगा, मैं अपना फण झट खींच लूंगा। मक्खी पहिये के नीचे पिचक कर मर जायगी। सोच कर सर्प ने अपना फण गाड़ी के पहिये के नीचे रख दिया। तब मक्खी तो उड़ गई किन्तु सांप पिचक कर मर गया।

रीछ को जब क्रोध आता है तब उसके पास कोई न हो तो वह अपने आपको ही चबा डालता है। क्रोध की अशान्ति दूर करने का एक उपाय मौन धारण करना है। क्रोधी मनुष्य के सामने व्यक्ति यदि चुप रह जाए तो क्लेश कलह बढ़ने नहीं पाता, स्वयं शान्त हो जाता है।

एक स्त्री का पति बहुत क्रोधी था। वह प्रतिदिन अपनी पत्नी को डंडे से मार लगाता था। हजार गालियां देकर वह उसका मन क्षुब्ध कर देता था। अपने पति के इस व्यवहार से वह अत्यन्त दुखी थी। जब वह बहुत दुखी हुई तो एक दिन एक वृद्ध स्त्री के पास गई और उसको अपना सारा दुःख कह सुनाया। वह वृद्धा स्त्री अच्छी अनुभवी थी, घर-कलह के कारणों को खूब जानती थी। उसने एक बोतल में पानी भर कर थोड़ा-सा नमक डाल दिया तथा कुछ मन्त्र पढ़ने का बहाना किया। वह बोतल उसको दे दी और कहा कि जब तेरा पति आकर तुझे गालियां देनी शुरू करे, उस समय तू इस बोतल में से कुछ पानी निकाल कर अपने मुख में रख लिया कर। जब तक वह गालियां देता रहे तब तक इस पानी को मुख में ही रखे रहना। जब वह चुप हो जाए तब तू उस पानी को पी जाना। वह स्त्री प्रसन्न होकर उस बोतल के पानी को औषधि समझ कर घर ले गई।

उसका पति जब घर आया और घर आते ही उसने गालियां देना प्रारम्भ किया तभी उस स्त्री ने बोतल में से थोड़ा पानी निकाल कर अपने मुख में भर लिया। मुख में पानी भरा होने के कारण वह अपने पति की गालियों का कुछ भी उत्तर न दे पाई। इस कारण उसका पति थोड़ी देर गाली देकर अपने आप चुप हो गया। डंडा तो उसने हाथ में उठाया ही नहीं। मार न लगने से और थोड़ी गालियां मिलने से वह स्त्री बुढ़िया की औषधि पर बड़ी प्रसन्न हुई। उसका वह दिन शान्ति से व्यतीत हुआ।

दूसरे दिन उसके पति ने घर आते ही जब गाली देना शुरू किया, उसी समय उसकी स्त्री ने पहले दिन की तरह उस बोतल का पानी मुंह में भर लिया। पत्नी की ओर से कुछ भी उत्तेजना न पाने के कारण वह जल्दी चुप हो गया। मार-पीट तो कुछ हुई ही नहीं। ऐसा प्रतिदिन होने लगा। इससे उस मनुष्य का क्रोध क्रमशः कम होता गया। उधर बोतल की दवा भी समाप्त हो गई। जब वह फिर बुढ़िया से दवा लेने गई तब बुढ़िया ने दवा का रहस्य बतलाया कि दवा अपने पति के क्रोध के समय मौन धारण करना ही है। स्त्री ने उस दिन से ऐसा ही किया। स्त्री के मौन रखने से उसके पति का क्रोधी स्वभाव भी बदल गया और उस घर में क्लेश, अशान्ति मिट गई, शान्ति स्थापित हो गई। इस तरह क्रोध कषाय और अज्ञान ही अशान्ति का कारण है। शान्ति के लिये इन दोनों को कम करते जाना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org